

योगदर्शन में पंचक्लेश एक अध्ययन

डॉ. अजित कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, लेडी श्रीराम कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश

'क्लिश्नन्ति इति क्लेशाः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर जिनके द्वारा प्राणी दुःख को प्राप्त करते हैं, वे क्लेश कहे जाते हैं। क्लेश कहे जाने का कारण देते हुए भोजदेव इन्हें बाधना रूप पीड़ा को देने वाला बताते हैं। तात्पर्य यह है कि इन क्लेशों के द्वारा ही प्राणी त्रिविध तापों को भोगता है। विज्ञानभिक्षु के मत में दुःखदायक होने के कारण ही अविद्यादि क्लेश कहे जाते हैं। ये क्लेश संस्कार रूप से चित्त में विद्यमान रहते हैं, यद्यपि उस काल में किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव प्राणी नहीं करता है, परन्तु भविष्य में ये दुःख के कारण बनेंगे यह जानते हुए विवेकी इन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। रागादि के द्वारा भी उनके व्यवहार काल में सामान्यजन दुःख को नहीं जान सकते, परन्तु विवेकी उस राग के कारण भविष्य में होने वाले दुःख को जान लेता है, इसीलिए कहा है कि विवेकी के लिए सब दुःखपूर्ण ही है।

मूलशब्द: अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, क्लेश, अनित्य

प्रस्तावना

संस्कार से दृष्ट अथवा अदृष्ट की सहायता से वृत्ति रूप में परिणत होने वाले ये क्लेश चित्त को विभिन्न प्रकार के कार्यों में संलग्न करके क्लेशमूलक कर्माशय को बनाते हैं, जिसके द्वारा गुणों का अधिकार और अधिक सुदृढ़ हो जाता है। भाव यह है कि व्यक्ति जब बार-बार कर्म करता है तो फलस्वरूप उसे भोगादि की प्राप्ति होती है, जिनके द्वारा पुनः संस्कार बनते हैं। इस प्रकार वृत्ति एवं संस्कार की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। कहा भी गया है कि क्लेशमूलक कर्माशय जाति, आयु एवं भोग का हेतु है। इस प्रकार के क्लेश, गुणों के विषम परिणाम के कारण बनते हैं। इन फलों को प्रदान करने हेतु ये परस्पर अनुग्रह के द्वारा कार्य सम्पन्न करते हैं। वाचस्पति मिश्र कर्म एवं क्लेशों का परस्पर अनुग्रह मानते हैं।³ परन्तु विज्ञानभिक्षु का मत है कि ये अविद्या एवं रागादि क्लेश ही एक दूसरे से अनुगृहीत हो कर अर्थात् एक दूसरे की सहायता करते हुए स्थिर होते हैं तथा इस स्थैर्य के द्वारा ही पूर्वोक्त लिखित जात्यादि के रूप में विपाक को प्राणी प्राप्त करता है। अतः मोक्ष प्राप्ति हेतु क्लेशों से मुक्त होना नितान्त आवश्यक है। इनसे मुक्ति के साधनों का वर्णन विस्तार भय के कारण नहीं किया जायेगा। यहाँ पर इनकी संख्या एवं स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है।

संख्या

योग दर्शन में पाँच क्लेश बताये गए हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, एवं अभिनिवेश।⁴

अविद्या

कुछ विद्वान् विद् धातु से निष्पन्न मानते हुए यथार्थ ज्ञान से भिन्न ज्ञान को अविद्या मानते हैं। उनका मत है कि अविद्या के स्वरूप के विषय में मतभेद होते हुये भी सभी भारतीय दार्शनिक इसे यथार्थ ज्ञान से भिन्न ज्ञान स्वीकार करते हुए दुःखों का मूल कारण मानते हैं। सांख्य के विपर्यय एवं योग की अविद्या के विषय में के.एस. जोशी साम्य प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं कि सांख्य का विपर्यय प्रकृति एवं पुरुष के मध्य भ्रान्ति रूप है तो अविद्या को द्रष्टा एवं दृश्य के अयथार्थ ज्ञान का बोध कराने वाला बताया गया है।⁵

अविद्या के स्वरूप का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने इसे अनित्य, अशुचि, दुःख एवं अनात्म पदार्थों में क्रमशः नित्यत्व, शुचित्व, सुख एवं आत्मतत्त्व का ज्ञान कराने वाला माना है।⁶ गरुड पुराण में भी अनात्म, असत् एवं दुःख रूप पदार्थों में क्रमशः आत्मा, सत् एवं सुखात्मक ज्ञान ही माया—रूपिणी अविद्या कहा गया है।

अनित्य में नित्य ख्याति

अनित्य से तात्पर्य विज्ञानभिक्षु ऐसे पदार्थों से मानते हैं जो कि एक निश्चित कालावधि पर्यन्त ही रहते हों तथा उसके पश्चात् नष्ट हो जाते हों।⁷ अर्थात् वे पदार्थ जो काल की सीमा से परे हैं उनका कभी नाश नहीं होता वे ही नित्य है अन्य अनित्य हैं। सांख्य—योग—दर्शन में प्रकृति एवं पुरुष दो तत्त्वों को ही नित्य माना है, इनके अतिरिक्त योग—दर्शन में ईश्वर को भी नित्य ही सिद्ध किया गया है परन्तु उसका पुरुष में ही अन्तर्भाव हो जाने से दो ही तत्त्वों को नित्य मानना चाहिये। इनमें भी पुरुष कूटस्थ नित्य है क्योंकि न तो इसका नाश ही होता है, न किसी प्रकार का परिणाम ही पाया जाता है। प्रकृति यद्यपि नित्य है तथापि पुरुष की भांति कूटस्थ नित्यता उसमें नहीं पाई जाती, क्योंकि संयोगोपरान्त महदादि के रूप में उसका विषम परिणाम दृष्टिगोचर होता है और उससे पूर्व साम्य परिणाम तो निरन्तर होता ही रहता है।

अनित्य पदार्थों को भ्रमवश नित्य मानने से होने वाले दुष्परिणाम को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि कुछ उपासक पंच भूतों अथवा रूचिभेद के अनुरूप सूर्य, चन्द्र, तारे अथवा द्युलोकादि को नित्य मानते हैं, इस कारण उनकी प्राप्ति हेतु अथवा उनमें लय होने के लिए विभिन्न साधनों का अनुष्ठान करते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे उन्हीं में लीन होकर कुछ काल पर्यन्त ही कैवल्य पद के समान अनुभव कर पुनः संसार में आ जाते हैं, अर्थात् अपने वास्तविक लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। यही अनित्य में नित्य ख्याति रूप अविद्या है।

अशुचि में शुचि ख्याति

अपवित्र पदार्थों को पवित्र मान कर व्यवहार करना भी अविद्या ही है। जिस प्रकार कि अत्यन्त अपवित्र शरीर को पवित्र मानना।⁸

शरीर की अपवित्रता को सिद्ध करने हेतु व्यासदेव वैयासिकी गाथा को उद्धृत करते हैं—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥

इस अपवित्रता का स्पष्टीकरण वाचस्पति मिश्र ने इस रूप में दिया है—

शरीर अपवित्र है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति का स्थल मल—मूत्रादि से युक्त माता का उदर है, तथा उपादान—कारण माता एवं पिता का रजो—वीर्य रूप मलिन बीज है। उस शरीर की स्थिति का आधार माता द्वारा खाए पिये गए अन्न जलादि के परिपाक से जन्य अपवित्र रस होता है। शरीर के नव द्वारा तथा रोम कूपों से निरन्तर पसीना एवं मल—मूत्रादि प्रवाहित होता रहता है इस कारण भी वह अपवित्र ही है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि मृत्यु के उपरान्त तो प्रत्येक का शरीर अपवित्र माना जाता है चाहे वह शूद्र हो अथवा वेदपाठी ब्राह्मण, क्योंकि उसको स्पर्श करने मात्र से ही स्नान का विधान शास्त्रों में किया गया है। अत एव ऐसे अत्यन्त अपवित्र शरीर को जलादि से धोकर तथा अंगरागादि का लेपन कर पवित्र हुआ जानना भी अज्ञान ही है, यही दूसरे प्रकार की अविद्या है। विज्ञानभिक्षु भी इन्हीं कारणों से शरीर की अपवित्रता को मानते हैं। इस सन्दर्भ में व्यास का मत है कि अत्यन्त अपवित्र शरीर की जो अत्यन्त पवित्र चन्द्रकला से उपमा देते हैं वे भी भ्रान्त ही हैं।⁹ व्यास देव इस अपवित्र में पवित्र ख्याति को, अपुण्य में पुण्य तथा अनर्थ में अर्थ रूप अज्ञान का भी उपलक्षक मानते हैं।¹⁰ वाचस्पति मिश्र अपुण्य में पुण्य के भ्रम को मीमांसकों की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि हिंसादि अपुण्य कर्मों से संसार की मुक्ति रूप पुण्य फल को मानना उक्त प्रकार की अविद्या है। विज्ञानभिक्षु का भी यही मत है।¹¹ अर्जन, रक्षण एवं क्षयादि विभिन्न दुःखों से युक्त धनादि पदार्थों को जो कि किसी भी रूप में पुरुषार्थ नहीं हो सकते पुरुषार्थ मानना ही अनर्थ में अर्थख्याति रूप अविद्या जानना चाहिए, ऐसा दोनों ही टीकाकारों का मत है।

दुःख में सुख ख्याति

सामान्य जन की कुछ पदार्थ सुखदायक प्रतीत होते हैं तो कुछ दुःखदायक, परन्तु वास्तव में कोई भी पदार्थ सुखदायक नहीं माना जा सकता क्योंकि परिणाम, ताप एवं संस्कार दुःखों के कारण तथा गुणों के परस्पर मिलकर कार्य करने से रजोगण का प्रत्येक पदार्थ में होना भी उनकी दुःख—मिश्रितता को स्पष्ट करता है। यही कारण है कि विवेकी पुरुष के लिए सब कुछ दुःखमय ही कहा गया है।¹² इस प्रकार अज्ञानवश इस दुःख रूप संसार को जो सामान्य जन सुखों की खान समझ कर इसमें भी रहना चाहता है अथवा यहाँ के विभिन्न पदार्थों को सुखसाधन मानता हुआ उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह तृतीय प्रकार की अविद्या ही जाननी चाहिए। वाचस्पति मिश्र ने सुगम जानकर इसकी व्याख्या नहीं की है। विज्ञानभिक्षु ने संसार को दुःख रूप बताते हुए लिखा है कि साधक सामान्य दुःखों के प्रतिकार को ही तात्त्विक परमार्थ सुख का साधन मानते हैं वे इस प्रकार की अविद्या से ग्रस्त हैं। भावागणेश एवं नागेश भट्ट भी दुःख पूर्ण संसार में सुख का ज्ञान ही यहाँ अभिप्रेत मानते हैं। यह तृतीय प्रकार की अविद्या जाननी चाहिए।

अनात्म में आत्मख्याति

पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने पर उसकी वृत्तियों को अपनी मानता हुआ¹³ स्वयं को कर्ता, भोक्ता आदि मानने लगता है, जिसके कारण वह सुख अथवा दुःख का अनुभव करता है। यही अनात्म में

आत्म—ख्याति रूप अविद्या है। इनके अतिरिक्त स्थूल एवं सूक्ष्मता के दृष्टिकोण के कारण विभिन्न दार्शनिक शरीरादि में ही आत्मा की कल्पना कर लेते हैं। जो नितान्त भ्रान्त ज्ञान है और संसार चक्र में भ्रमण का कारण बनता है। वाचस्पति मिश्र ने अविद्या के इस रूप की व्याख्या नहीं की है। विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि शरीर से अतिरिक्त बाह्य उपकरणों में अथवा पुत्रादि में जो अहं बुद्धि है एवं विषय भोग का अवच्छेदक होने से अन्तःकरण के उपकरण शरीर में अथवा पुरुष के भोग का साक्षात् साधन होने से अन्तःकरण में जो अहं बुद्धि होती है वह अविद्या स्वरूप ही है। जिसके फलस्वरूप पुरुष अपने को कर्ता, भोक्ता इत्यादि समझने लगता है। इस कारण वह पुण्य अपुण्य का भागी हो कर जाति, आयु एवं भोग रूप फल की प्राप्ति हेतु पुनः पुनः संसार में जन्म लेता रहता है, इस प्रकार यह चतुर्थ प्रकार की अविद्या संसार में जन्म लेने का मूल कारण है।¹⁴

पंचशिखाचार्य के मत में भी जो व्यक्ति व्यक्त एवं अव्यक्त अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थों को अपना मानते हुए उनके कम अथवा अधिक मात्रा में प्राप्त होने पर अथवा बुद्धितत्त्व को निज रूप मानते हुए उसकी सत्यसंकल्पतादि का अपने में आरोप कर प्रसन्न होता है तथा उसकी इच्छा विघात रूप विपत्ति को अपनी मानकर दुःखी होता है, वह निश्चय ही मूर्ख है।

विभिन्न दर्शनों में आत्मा के स्वरूप का वर्णन हमें वेदान्तसार में संकलित रूप में मिलता है अतः यहाँ उसी के अनुसार उनके मत की भ्रान्ति दिखाई जा रही है।

कुछ चार्वाक जो कि अत्यन्त स्थूल दृष्टि वाले हैं उनके अनुसार यह शरीर ही आत्मा है, क्यों मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, ऐसा प्रयोग देखा जाता है।

मैं काना हूँ, मैं बहरा हूँ ऐसे प्रयोग होने के कारण कुछ इन्द्रियों को आत्मा मानते हैं।

प्राणात्मवादियों का मत है कि प्राण के न रहने पर इन्द्रियाँ भी कुछ करने में समर्थ नहीं होतीं अतएव प्राण ही आत्मा है।

चार्वाकों का एक समूह मन को आत्मा मानने के पक्ष में यह तर्क देता है कि हर प्रकार के ज्ञान में प्राणादिकों के साथ मन का संयोग अत्यन्त आवश्यक है। मन के सो जाने पर प्राण कुछ नहीं कर सकते अतः मन ही आत्मा है यह मानना चाहिए। साथ ही मैं संकल्प करता हूँ, मैं विकल्प करता हूँ इत्यादि अनुभव भी होता है।¹⁵

योगाचार मतावलम्बी बौद्धों का मत है कि इन्द्रियाँ एवं शरीर करण मात्र है और कर्ता के अभाव में करण कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो सकता, अतएव मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, इस प्रकार जिसको अनुभव होता है वह बुद्धि ही आत्मा है।¹⁶

प्रभाकर मतावलम्बी (मीमांसक) के अनुसार बुद्धि इत्यादि अर्थात् ज्ञान—सुख—दुःखेच्छादि का अज्ञान में लय हो जाने से तथा मैं अज्ञानी हूँ इत्यादि अनुभव होने के कारण अज्ञान को आत्मा जानना चाहिए।

कुमारिलभट्टमतानुयायी मीमांसकों के मत में अज्ञानसंवलित चैतन्य ही आत्मा है।

माध्यमिकमतावलम्बी बौद्ध कहते हैं कि 'असदेवेदमग्र आसीत्' अर्थात् इस नामरूपात्मक जगत्—सृष्टि के पूर्व शून्य था। सुषुप्ति में और उसके पश्चात् उस काल के विषय निजाभाव का अनुभव होता है, अतः सर्वानुभावरूप शून्य ही आत्मा है—कोई द्रव्य नहीं।

आत्मविषयक भ्रान्तियों का कारण भी यह अविद्या है। जब योगाभ्यास द्वारा अविद्या का क्षय हो जाता है तो विवेकख्याति के उदित होने पर साधक अपने नित्य एवं शाश्वत स्वरूप को जान लेता है।

यहाँ पर चार प्रकार की अविद्या का वर्णन किया है परन्तु वास्तव में भ्रमज्ञान रूप अविद्या तो अनन्त है तथा दिङ्मोह, अलातचक्रादि। उनका वर्णन न किये जाने का कारण देते हुए भाष्यकार व्यास लिखते हैं कि जन्म—मरणादि संसार की बीजभूत

अविद्या चार ही प्रकार की है। दोनों टीकाकारों का भी यही मत है।

अविद्या ही अस्मितादि की प्रसव भूमि है

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश रूप जो पाँच क्लेश बताए गए हैं, उनमें अविद्या सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह अन्य चारों क्लेशों की भी उत्पत्ति स्थल रूप कही गई है।¹⁷ व्यास ने मात्र इसे प्रसव भूमि ही कहा है¹⁸, यह कहे जाने का कारण देते हुए भोजदेव लिखते हैं— क्योंकि विपर्यय ज्ञान रूप अविद्या के रहने पर ही उनका उद्भव होता है अतः उन्हें अविद्या मूलक कहा गया है।¹⁹ भावागणेश एवं नागेशभट्ट और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जिन अनात्म पदार्थों में व्यक्ति को आत्मतत्त्व का भ्रम होता है अर्थात् व्यक्ति उनमें अहं अथवा मम बुद्धि रखता है उनके प्रति ही उसे तत्पश्चात् रागादि होता है। इस प्रकार वह अस्मिता एवं रागादि का कारण है।

अविद्या भाव पदार्थ है

अविद्या को सांख्य-योग-दर्शन में अभाव रूप न मानकर भाव-पदार्थ ही माना गया है। इसमें प्रयुक्त अकार को नकारात्मक न मानते हुए उसका पर्युदासपरक अर्थ किया गया है। भाष्यकार व्यास का मत है कि जिस प्रकार अमित्र पद का अर्थ मित्र का अभाव अथवा मित्र मात्र नहीं माना जा सकता क्योंकि वह शत्रु इस विशिष्ट अर्थ को संकेतित करता है उसी प्रकार यहाँ विद्यामात्र अथवा विद्या का अभाव न जानकर विद्या से भिन्न मिथ्या ज्ञान रूप भाव पदार्थ मानना चाहिए। वाचस्पति मिश्र इसे भाव पदार्थ माने जाने के विषय में तर्क देते हुए लिखते हैं कि अविद्या कोई अभाव पदार्थ होती तो वह अस्मितादि क्लेशों का कारण कैसे मानी जा सकती थी, साथ ही उनका यह भी मत है कि यदि विद्याभाव को क्लेशादि का हेतु माना जाए तो विद्यावृत्ति का जिन असम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ योगियों में निरोध हो गया है उनमें भी पुनः क्लेशापति माननी पड़ेगी जो सर्वथा अनुपयुक्त है। विज्ञानभिक्षु का मत है कि अविद्या यहाँ पर अविवेक को द्योतित करते हुए वैशेषिकादियों की भांति विशिष्ट ज्ञान को द्योतित करती है, यह विद्या का विरोधी विशिष्ट प्रकार का मिथ्या ज्ञान है। सांख्य-प्रवचन-भाष्य में विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि अविद्या को अत्यन्त तुच्छ अर्थात् अभाव रूप नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका नाश मात्र तर्क एवं श्रुति वाक्यों के द्वारा नहीं हो सकता, वरन् उसको नष्ट करने के लिए योगाभ्यास की परमावश्यकता है।²⁰

अद्वैत-वेदान्ताभिमत अविद्या का विज्ञानभिक्षु खण्डन करते हुए तर्क देते हैं कि वहाँ जो अविद्या को प्रकृति का पर्याय एवं जगत् का मूल कारण माना गया है वह उचित नहीं है, क्योंकि यदि अविद्या ही जगत् का कारण होती तो एक व्यक्ति की अविद्या का नाश हो जाने पर सम्पूर्ण संसार नष्ट हो जाना चाहिए था, परन्तु ऐसा व्यवहार में नहीं देखा जाता है। अतः अविद्या मात्र प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण है। जगत् के कारण रूप में उन्होंने ईश्वरेच्छा को ही माना है।²¹

विज्ञानभिक्षु माया को अविद्या का पर्यायवाची नहीं मानते हैं, उनका मत है कि माया क्योंकि मात्र सत्त्वगुणात्मक है अतः त्रिगुणात्मक प्रकृति से वैभिन्न्य रखते हुए जो जडत्व रूप साम्यता के कारण प्रकृति में अन्तर्भावित की जा सकती है।

अस्मिता

रागादि की अपेक्षा वाचस्पति मिश्र अस्मिता को वरिष्ठ मानते हैं जो कि अविद्या का सर्वप्रथम कार्य रूप है।²² दृक् शक्ति रूप पुरुष अथवा द्रष्टा एवं दर्शन शक्ति रूप प्रकृति अथवा दृश्य के मध्य अविद्या के कारण जो एकात्मकता है वह प्रतीति मात्र ही है,

वास्तव में वे दोनों एक नहीं है यह वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया है।²³

विज्ञानभिक्षु ने अविद्या एवं अस्मिता के मध्य भेद का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि अविद्याकाल में जो एकात्मकता की प्रतीति होती है वह भेदाभेद रूप होती है अर्थात् उसमें पूर्ण रूप से अभेद का ग्रहण नहीं होता। परन्तु अस्मिता काल में बुद्धि एवं पुरुष में बुद्धि के गुणों का आरोप होने के कारण वह स्वयं को कर्ता एवं भोक्ता आदि समझने लगता है।

राग

सुख का अनुभव होने पर अनन्तर उसकी अनुस्मृति के कारण तद्विषयक जो तृष्णा है वही राग कही जाती है।

वाचस्पति मिश्र अस्मिता के अनन्तर राग का उल्लेख किए जाने का कारण देते हुए लिखते हैं, क्योंकि विवेकज्ञान हो जाने पर अविद्या की निवृत्ति होने से, अविद्या मूलक अस्मिता के उच्छेद के अनन्तर ही रागादि का उच्छेद सम्भव है। यही कारण है अस्मिता के पश्चात् उसका उल्लेख सूत्रकार ने किया है।²⁴ दोनों ही टीकाकारों ने भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त गर्ध, तृष्णा, लोभ आदि पदों को राग का पर्यायवाची माना है।

द्वेष

जिस प्रकार सुख एवं उसके साधनों के प्रति राग कहा गया है, ठीक उसी प्रकार दुःख एवं सुख के साधनों के प्रति दुःख के साधनों के प्रति जो स्वाभाविक घृणा अथवा क्रोध है वही द्वेष नामक क्लेश कहा जाता है।²⁵ विज्ञानभिक्षु का मत है कि जिज्ञासा पद का प्रयोग द्वेष की इच्छा-विशेषता को द्योतित करता है, भाव यह है कि द्वेष भी चित्त में रहने वाला है, अतः क्लेश है।

अभिनिवेश

जीवन के प्रति जो उत्कट अभिलाषा है, वही अभिनिवेश क्लेश कही गई है, तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी चाहे वह मूर्ख हो या विद्वान्, बालक हो या वृद्ध कोई भी मरना नहीं चाहता वरन् अपनी दीर्घायु की इच्छा करता है, यह आत्माशी ही अभिनिवेश क्लेश कही गई है।²⁶ यह दुःखमूलक है ऐसा स्वयं व्यास ने स्पष्ट किया है। यही कारण है कि इसका वर्णन दुःखमूलक द्वेष के अनन्तर किया है, ऐसा विज्ञानभिक्षु का मत है।²⁷ यह आत्माशी क्योंकि जातमात्र बालक में भी देखी जाती है अतः पूर्व जन्म में इस मरण दुःख का उसके द्वारा उपभोग किया गया है, इससे इसका अनुमान होता है। ऐसा दोनों टीकाकारों ने स्पष्ट किया है।

यह अभिनिवेश रूप क्लेश संस्कार मात्र से जन्म-जन्मान्तर में प्रवहणशील है। सूत्रकार द्वारा विद्वानों को भी इस क्लेश से युक्त होना कहा गया है²⁸ जो कि योग-दर्शन में वर्णित विद्वान् की दशा से विरोधी प्रतीत होता है, क्योंकि विद्वान् को अविद्या की निवृत्ति के कारण किसी भी क्लेश से मुक्त मानना तर्कविरुद्ध है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि विद्वान् से तात्पर्य यहां सम्प्रज्ञात योग सम्पन्न विवेकख्यातियुक्त नहीं समझना चाहिए वरन् श्रुति स्मृति आदि के द्वारा जिन्होंने ज्ञान को प्राप्त किया है अर्थात् उसका साक्षात्कार नहीं किया है, उन्हें जानना चाहिए।

क्लेशों की अवस्थाएं

सूत्रकार ने अस्मितादि की चार अवस्थाएँ बताई हैं— प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, एवं उदार।²⁹ अविद्या की इन अवस्थाओं का उल्लेख न किए जाने का कारण सम्भवतया यही है कि वह इन चारों क्लेशों की भी मूल कारण कही गई है अतः अविद्या का अस्मितादि क्लेशों की प्रसुप्तादि अवस्थाओं में अनुस्यूत होना स्वाभाविक है।

प्रसुप्तावस्था

क्लेशों का शक्तिमात्र से बीजभाव को प्राप्त हो पड़े रहना ही उनकी प्रसुप्ति कही जाती है। यह दशा विदेह एवं प्रकृतिलीन योगियों की होती है क्योंकि निश्चित अवधि के पश्चात् पुनः उनके क्लेशों की अर्थक्रियाकारिता पाई जाती है, ऐसा वाचस्पति मिश्र का मत है। विज्ञानभिक्षु इनसे अस्मितादि की अनागतावस्था मानते हैं। इन क्लेशों का आविर्भाव आलम्बन के सम्मुख आने पर हो जाता है ऐसा दोनों टीकाकार एकमत से स्वीकार करते हैं। यही विवेकख्यातियुक्त योगियों के क्लेशों की अवस्था से इसमें अन्तर है क्योंकि उनके क्लेश दग्धबीजभाव रूप पंचमावस्था को प्राप्त हो जाते हैं अतः विषयों के सम्मुख आने पर भी उनका प्ररोह नहीं होता।

तनु अवस्था

प्रतिपक्ष की भावना से युक्त क्लेश तनु कहे जाते हैं। प्रतिपक्ष के रूप में क्रियायोग को तो दोनों ही टीकाकारों ने स्वीकार किया है। परन्तु वाचस्पति मिश्र द्वारा सम्यक्ज्ञान, भेददर्शन, माध्यस्थ्य तथा अनुबन्धबुद्धिनिवृत्ति क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश के जो प्रतिपक्ष कहे गए हैं विज्ञानभिक्षु को वे सम्भवतया पूर्णभिमत नहीं हैं क्योंकि उन्होंने इनका उल्लेख कोई आलोचक ऐसा कहते हैं कि के रूप में किया है। परन्तु तद्विषयक स्वमत को प्रकट न करना उनकी अर्धस्वीकृति को द्योतित करता है। क्लेशों की तनु अवस्था का उद्देश्य बताने हेतु विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि क्लेश तनु होने पर विवेक ख्याति के आविर्भाव में बाधक नहीं होते।³⁰

विच्छिन्नावस्था

किसी एक क्लेश की उदारावस्था काल में अन्य क्लेशों का अभिभूतावस्था में पड़े रहना ही उनकी विच्छिन्नावस्था कही जाती है। ये क्लेश थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् आलम्बन को प्राप्त कर उदारावस्था में आ जाते हैं³¹, विच्छिन्न एवं प्रसुप्तावस्था में भेद दर्शाते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि विच्छिन्नावस्था में पड़े हुए क्लेशों की अनभिव्यक्त अल्पावधि के लिए ही होती है जबकि प्रसुप्तावस्था में पड़े क्लेश जन्म जन्मान्तर में कभी अभिव्यक्त होती है अर्थात् कई-कई जन्मों तक ये अपनी अनभिव्यक्तावस्था में पड़े रहते हैं।

उदार अवस्था

क्लेश जब अपने व्यापार में संलग्न होते हैं तो यह उनकी उदारावस्था कही जाती है।³²

यद्यपि उदारावस्था युक्त क्लेश ही कष्टदायक होते हैं परन्तु अन्य अवस्थाओं में क्लेश भी धीरे-धीरे उदारावस्था को कभी न कभी प्राप्त होते ही हैं, अतः वे भी कष्टदायक होने से क्लेश कहे जाते हैं, ऐसा वाचस्पति मिश्र का मत है।

क्लेशों की इन चार अवस्थाओं को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है— स्थूल तथा सूक्ष्म। उदार दशा इनमें स्थूल होती है, शेष सूक्ष्म। स्थूलदशा के क्लेशों को सूक्ष्म करने के उपाय हैं— तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान और सूक्ष्म क्लेशों की निवृत्ति का उपाय विवेक-ख्याति है। विवेकख्याति होने से ये सूक्ष्म क्लेश दग्धबीज की भाँति फलोन्मुख होने में असमर्थ हो जाते हैं और चित्त के अपने कारण प्रकृति में लय होने के साथ लीन हो जाते हैं। योगी को इस दशा के प्राप्त करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

संदर्भ सूची

1. ते च बाधनालक्षणं परितापमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति। —भो.वृ., पृ. 36
2. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। —यो.सू., सू. 2/15
3. कर्मभिः क्लेशाः। क्लेशैश्च कर्माणीति। —त.वै., पृ. 141
4. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। —यो.सू. 2/3

5. The *Samkhya* philosophers seem to derive all human behaviour from a feeling of misery, which is supposed to have its origin in what they call *viparyaya*, which is the confusion between the attributes of the *soul* and the *prakrti*. Yoga Philosophy seems to espouse a more or less similar view and seeks to explain the origin of human behaviour on the basis of what is called *aviveka*. This is, as we have already seen, a mistaken identity between the intrinsic nature of the *drasta* and the *drsyta*. p. 40
6. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिर्मूखात्मख्यातिरविद्या। —यो. सू. 2/5
7. अनित्यत्वमसत्त्वं कालनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमिति यावत्। —यो. वा., पृ. 149
8. तथाऽशुची परमवीभत्से काये शुचिख्यातिः। —व्या.भा., पृ. 147
9. नवैव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्वा निःसृतेव ज्ञायते। —व्या.भा., पृ. 147
10. एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः। —व्या.भा., पृ. 147
11. तप्तशिलाऽऽरोहणादौ हिंसादौ वा पुण्यप्रत्ययः। —यो.वा, पृ. 150
12. तथा दुःखे सुखाख्यातिं वक्ष्यति—परिणाम—तापसंस्कारदुःखैर्गुणावृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति। तत्र सुखख्यातिरविद्या। —व्या.भा., पृ. 147
13. वृत्तिसारूप्यमितरत्र। —यो.सू. 1/4
14. अहं कर्तव्याद्यभिमानस्यैव धर्माधर्मोत्पत्तिद्वारत्रिखलजगद्देतुत्वात् इति। —यो.वा., पृ. 150
15. मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति। —वे.सा., पृ. 53
16. बौद्धस्तु—कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्ताहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति। —वे.सा., पृ. 53
17. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्तनुविच्छिन्नोदारानाम्। —यो.सू. 2/4
18. अत्र विद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां...। —व्या.भा., पृ. 142
19. विपर्ययज्ञानसद्भावे च तेषामुद्भवदर्शनात्स्थितमेव मूलत्वमविद्यायाः। —भो.वृ., पृ. 141
20. अविवेको युविततः श्रवणतश्च न बाध्यते नोच्छिद्यते। —सा.प्र. भा., पृ. 32
21. प्रकृतेः वैषम्यहेतुः क्षोभोऽपीश्वरेच्छात एव। —यो.वा, पृ. 73
22. अविद्यामुक्त्वा तस्याः कार्यमस्मितां रागादिवरिष्णामाह। —त.वै., पृ. 151
23. दृक् च दर्शनं च, ते एव शक्ती, तयोरात्मनात्मनोरनात्मन्यात्मज्ञानलक्षणविद्यापादिता चैकात्मतैव न तु परमार्थत एकात्मता सास्मिता। —त.वै., पृ. 151
24. विवेकदर्शने रागादीनां विनिवृत्तेरविद्यापादितास्मितारागादीनां निदानमित्यस्मितानन्तरं रागादील्लक्ष्ययति। —त.वै., पृ. 153
25. दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मनुर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति। —व्या.भा., पृ. 154
26. सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्यो भवति मा न भूवं भूयासमिति। —व्या.भा., पृ. 154
27. द्वेषमूलकतया द्वेषस्य पश्चादभिनिवेशं लक्षयति। —यो.वा, पृ. 155
28. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। —यो.सू., 2/9
29. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदारानाम्। —यो.सू. 2/4
30. तनवो विवेकख्यातिबन्धक्षमा भवन्ति। —यो.वा, पृ. 145
31. तथा विच्छिद्यविच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। —व्या.भा., पृ. 142
32. विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। —व्या.भा., पृ. 143